

महाभारत में प्रतिपादित कर्म

गुलाब चन्द्र
शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

महाभारत में कर्म का श्रेष्ठतम स्वरूप विद्यमान है। प्रस्तुत ग्रन्थ का आरम्भ एवं समापन दोनों कर्म से ही हुआ है। कर्म को महाभारत में ब्रह्म से उत्पन्न बताया गया है। ब्रह्म का तात्पर्य टीकाकारों ने अलग-अलग ग्रहण किया है। भीष्म पर्व के 27वें अध्याय में कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि कहा गया है। अक्षर रूप निर्गुण ब्रह्म से प्रकृति की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म और प्रकृति में भेद नहीं है तथा ब्रह्म, प्रकृति और कर्म में भेद नहीं है अतएव कर्म भी ब्रह्मरूप है। महाभारत में कर्म को वेद से उत्पन्न बताया गया है। वेदशास्त्रों के अनुसार, किस मनुष्य के लिये कौन-सा कर्म किस प्रकार करना चाहिये निर्देशित किया गया है। महाभारत में यज्ञ और कर्म पर्याय के रूप में वर्णित है एवं उन यज्ञों के सम्पादन के लिये वेदशास्त्रों की शिक्षा अनिवार्य बतायी गयी है। भीष्मपर्व के अनुसार कार्य और अकार्य के निर्णय के लिये वेदशास्त्र ही प्रमाण माने जाते हैं।¹

महाभारत में कर्म के पर्याय यज्ञ का तात्पर्य आसक्ति रहित कर्म से है। यज्ञ के लिये कर्म करने वालों के समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् जो शास्त्र दृष्टि से कार्य करते हैं, उनकी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अभिमान आदि कर्म पूर्व संचित समस्त कर्मों के सहित विलीन हो जाते हैं एवं उनके किसी भी कर्म में फल देने की शक्ति नहीं रहती है।² महाभारत में यज्ञ शब्द का अर्थ मीमांसकों का संकुचित अर्थ अग्नि में हविस् डालना नहीं है, अपितु वेद शास्त्रों में प्रतिपादित विधि के अनुसार किये जाने वाले कर्म हैं जिनके अनुष्ठान से व्यक्ति सांसारिक बन्धन से छूट जाता है एवं उसे पुनः कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती है।

महाभारत में कर्म के कर्म, विकर्म और अकर्म ये तीन भेद बतलाये गये हैं। इनमें शास्त्र विहित कर्मों का नाम ही कर्म है, लेकिन कर्म के आचरण में भाव का भेद होने से उसके स्वरूप में भेद हो जाता है। शास्त्रविहित कर्म को जानने वाले महापुरुषों के द्वारा ही कर्म के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया गया है उनकी प्रेरणा और आज्ञा के अनुसार ही कर्मों का आचरण करना चाहिये। कर्म का दूसरा भेद विकर्म है। विकर्म वह कर्म है जो करने योग्य नहीं होता। झूठ बोलना, कपट, चोरी करना,

व्यभिचार, हिंसा करना आदि निषिद्ध कर्म है जो विकर्म के अन्तर्गत आते हैं। कर्म का तीसरा भेद 'अकर्म' के नाम से जाना जाता है। महाभारत में विवाद का मूल विषय कर्म और अकर्म है अर्थात् युद्ध किया जाय अथवा न किया जाय। भागवतकार के अनुसार कर्म और अकर्म का निर्णय कर पाना अत्यधिक कठिन है क्योंकि इस विषय में शास्त्रों को जानने वाले बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हो जाते हैं।³ अकर्म का वास्तविक अर्थ यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रम के अनुसार जीविका और शरीर निर्वाह सम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं उन सब में आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकार का सर्वथा परित्याग कर देना है। उद्देश्य परिवर्तन के भेद से ही अकर्म भी कर्म या विकर्म के रूप में बदल जाया जाता है।

महाभारत में वर्णित कर्म या सुकर्म के पुनः नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य तीन भेद बताये गये हैं। जीवन निर्वाह के लिये अनिवार्य कर्म नित्य कर्म है। जिसके विषय में भीष्म पर्व में बताया गया है कि— मनुष्य देखता, सुनता है, स्पर्श करता है, सूँघता है, रसना से रस लेता है, भोजन करता है, जागता है, सोता है, साँस लेता है, बोलता है, मलमूत्र त्याग करता है, वस्तुओं को ग्रहण करता है, आँखें खोलता है। इस प्रकार समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में लगी रहती हैं।⁴ इन्द्रियों के कार्य का फल जीवन चलाना है।

स्वार्थ रहित होकर सर्वकल्याण के लिये अथवा शुभ उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किये जाने वाले कर्म नैमित्तिक कर्म होते हैं। महाभारत में भगवान् श्रीकृष्ण का धर्म की स्थापना के लिये अवतार लेना, अर्जुन को दुष्टों के साथ युद्ध करना नैमित्तिक कर्म कहे गये हैं।⁵ काम्य कर्म से तात्पर्य केवल शारीरिक एवं मानसिक सुख भोग की इच्छा से नहीं है बल्कि ब्रह्म जिज्ञासा भी एक काम्य कर्म है। काम्य कर्म हर स्थिति में वर्जित नहीं होते परन्तु इसके लिये आसक्ति रहित होकर कर्म करना अनिवार्य होता है। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि— वेद एवं स्वर्गादि की कामना से जो योगादि कर्मों का विधान किया जाता है वह उन्हीं मनुष्यों को जाल में फँसाता है जिनका कर्म भोगों में आसक्त होता है।

महाभारत के अनुसार, सिद्धि से पूर्व साधन रूप में तथा सिद्धि के पश्चात् लोकसंग्रह के लिये दोनों अवस्थाओं में कर्म करना चाहिये। कर्मयोग के अन्तर्गत प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही मार्गों का समन्वय किया गया है एवं वैराग्य तथा संन्यास को सवीकार करते हुये भी कर्म की अनिवार्यता बतायी गयी है। महाभारत में योग शब्द का तात्पर्य विशेष प्रकार की कुशलता, साधन, मुक्ति अथवा उपाय किया गया है। इसी तात्पर्य से महाभारत में 'योगः कर्मसु कौशलम्'⁶ कहकर इसे और अधिक स्पष्ट किया गया है। व्यक्ति के जीवन में यद्यपि कार्य करने के अनेक उपाय विद्यमान हैं, परन्तु उनमें श्रेष्ठतम उपाय योग के नाम से जाना जाता है। फल की इच्छा से काम करने की अपेक्षा समबुद्धि का योग ही श्रेष्ठ है।⁷ अतएव कर्मयोग फल की इच्छा से रहित होकर समत्व बुद्धि से किया जाने वाला कर्म है।

वैदिक काल से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्ग प्रचलन में हैं। उनमें योग से तात्पर्य कर्म का मेल और संन्यास से तात्पर्य कर्म का परित्याग है। महाभारत में प्रवृत्ति लक्षणोर्योगः ज्ञानं संन्यास लक्षणम्⁸ के द्वारा योग का अर्थ प्रवृत्ति मार्ग ही बताया गया है। शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान के अन्तर्गत सांख्य और योग शब्दों का अर्थ क्रमशः निवृत्ति और प्रवृत्ति है। अतः यह स्पष्ट है कि महाभारत के अनुसार योग का तात्पर्य प्रवृत्ति मार्ग अर्थात् कर्मयोग है।

महाभारत के अनुसार कर्मयोग का आधार बुद्धियोग माना गया है। बुद्धियोग से तात्पर्य है कि कर्मयोगी के लिये सर्वप्रथम अपनी बुद्धि को लौकिक क्रियाओं एवं विषयों की ओर न लगाकर कर्मबन्धन से छुटकारा दिलाने वाले कर्मों की ओर अग्रसर करना चाहिये। साधारण लोगों की बुद्धि लौकिक फलों की कामना से कर्म में संलग्न होती है। कामना से युक्त बुद्धि ही बन्धन का कारण बनती है। बुद्धि के द्वारा कर्मयोगी को कामनाओं का सर्वथा परित्याग करके ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से कार्य करना चाहिये। महाभारत में बुद्धियोग के द्वारा ही कर्मबन्धन को मुक्त किया जा सकता है। इसमें कर्मयोगी का चित्त ईश्वर में लगकर उसकी सम्पूर्ण विपत्तियाँ एवं कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।⁹ बुद्धियोग के अन्तर्गत किया गया कर्म कभी नष्ट नहीं होता एवं उसमें कभी विघ्न नहीं आता है।¹⁰

बुद्धियोग के अन्तर्गत कर्मयोगी के लिये अपनी बुद्धि को तीनों गुणों से रहित करके सत्त्व अर्थात् आत्मा में स्थिर करना चाहिये। महाभारत में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसके लिये निस्त्रेगुण्यो भवार्जुन कहकर सम्बोधित किया है। निस्त्रेगुण्य का अर्थ शंकराचार्य ने संसार को छोड़कर निष्काम होना बताया है और सत्त्वस्थ का तात्पर्य सत्त्व गुण में स्थित कहा है। महाभारत में निस्त्रेगुण्य का अर्थ तीनों गुणों के प्रभाव से रहित तथा सत्त्वस्थ का अर्थ आत्मा में स्थित कहा है।¹¹ स्त्रीपर्व के अनुसार अपना कल्याण चाहने वाले जीवों के आवागमन का ज्ञान रखने वाले जो मनुष्य सत्त्व अर्थात् आत्मा में स्थित होते हैं वे परमगति को प्राप्त होते हैं।¹²

परमपद की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को आत्मस्थ अर्थात् सत्त्वस्थ होने का उपदेश दिया गया है। महाभारत में इसके लिये निष्काम कर्म को बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश देते हुये कर्मयोग का सार प्रस्तुत किया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्तवकर्मणि ।।¹³

हे अर्जुन! कर्मफलों में तेरा अधिकार नहीं है, कर्मफल को तुम हेतु न बना। यहाँ पर कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, कर्म में तुम्हारी आसक्ति न हो, यह कहकर ज्ञानयोग से बुद्धियोग को पृथक् कर दिया है। ज्ञानमार्ग में कर्मों को ज्ञान और मोक्ष का विरोधी मानकर उनका सर्वथा परित्याग किया

जाता है और संन्यास ग्रहण करना होता है। सब कर्म फल के अधिकारी नहीं हैं एवं कर्मफल को हेतु नहीं बनाना है तो कर्म करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। अतः इसका स्वाभाविक परिणाम होता है, सर्वकर्म संन्यास। परन्तु गीता में ज्ञानयोग से बुद्धियोग को भिन्न करने के लिये स्पष्ट कहा गया है कि अकर्म में तेरी आसक्ति न हो, कर्म करने में ही तेरा अधिकार है अर्थात् कर्म करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। यहाँ बुद्धियोग ज्ञान योग की सीमा का उल्लंघन करके कर्मयोग के साम्राज्य में प्रवेश करता है। अतएव कर्मयोगी का प्रधान अंग कर्म करना है। व्यक्ति को फल की आशा न रखकर कर्मेन्द्रियों को कर्म करने देना चाहिये। केवल कर्तव्य कर्म समझकर सात्त्विक कर्म करना चाहिये।

महाभारत के अनुसार सिद्धि एवं असिद्धि में समत्व भाव ही फलाशक्ति के परित्याग का साधन है। यह समता, हर्ष एवं शोक के परित्याग से मिलती है। इन सब में आसक्ति का सर्वथा परिहार हो जाता है और कर्मयोगी की बुद्धि आत्मा में स्थित हो जाती है। समत्वभाव के अतिरिक्त समत्व योग के अन्तर्गत मन एवं इन्द्रियों का संयम भी आवश्यक बताया गया है। इसमें कर्म करते हुये और अकर्म के कारण विषयों के समीप रहते हुये समाधिस्थ रहना पड़ता है।¹⁵ काम भाव मानव मन एवं इन्द्रियों पर सदैव अपना प्रभाव डालना चाहता है। कर्मयोगी को चाहिये कि वह काम को मन एवं इन्द्रियों से परित्याग कर दे। मन व्यक्ति के शरीर में बुद्धि रूपी अधिष्ठान में स्थित होकर उदासीन भाव से स्वभावानुसार यथासम्भव विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियों के लिये दीपक का कार्य किया करता है। अर्थात् जिस प्रकार दीपक अपनी प्रभा द्वारा घट आदि वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार मन, नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा घट पट आदि वस्तुओं का दर्शन एवं ग्रहण करता है। इन्द्रियाँ विषयों की ओर उसी प्रकार आकृष्ट होती हैं जैसे लोहा, चुम्बक की ओर। कर्मयोगी इन्द्रियों को विशेष की ओर से उसी प्रकार खींच लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को बाहर से सिकोड़ लेता है।¹⁶

महाभारत के अनुसार अन्तिम सोपान में कर्मयोगी को अपने कर्मों को ईश्वर को अर्पण कर देना चाहिये। जीव के समस्त कार्यों के ईश्वरार्पण हो जाने पर ही वह कर्म बन्धन के अच्छे एवं बुरे फलों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। कर्मयोगी को बुद्धि द्वारा मन पर तथा बुद्धि एवं मन के द्वारा इन्द्रियों को अपने वश में करके उस परमेश्वर का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।¹⁷ इस प्रकार से कार्य करते हुये जब कर्मयोगी की इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में एवं बुद्धि आत्मस्थ होकर परमेश्वर में समाहित हो जाती है तब मन नित्य कर्मों के अनुष्ठान से राग आदि दोषों को दूर करके दर्पण की भाँति स्वच्छ एवं दीप्तिमान हो जाता है। इस अवस्था में बुद्धिमोह का पर्दा हट जाने से अशुभ कर्मों को उसी प्रकार से देखती है जैसे रात बीत जाने पर अन्धकार का आवरण समाप्त हो जाता है। कर्मयोगी की यही स्थिति स्थितप्रज्ञ कही जाती है।¹⁸

स्थितप्रज्ञ को ही महाभारत में ब्राह्मी स्थिति बताया गया है, जिसमें कर्मयोगी परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। सांख्य की भाँति कर्मयोगी को इस स्थिति में कर्मों से संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि वह शरीर धारण करके कर्म करते हुये साक्षात्कार करता है। जो आनन्द प्राप्त करते हुये, प्रसन्नचित्त और आत्मनिष्ठ होकर अक्षय सुख का उपभोग करता है। अतः यह बुद्धियोग, ज्ञानयोग या संन्यास योग का अंग न होकर अपितु कर्मयोग का अंग है।¹⁹ इस प्रकार जीव प्रकृति के गुणों से युक्त होकर विभिन्न प्रकार के सांसारिक कर्म करता है। अपने किये गये शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप उसे कभी स्वर्ग का भोग मिलता है तो कभी पाप रूप बुरे कर्मों के फलस्वरूप नरक की यातनायें सहन करनी पड़ती है। शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के फलस्वरूप उसे पुनः पुनः पृथ्वी पर आकर सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। यह कर्मफल जीव का पीछा उसकी छाया के समान करता है। जीवात्मा नित्य एवं स्थाई होने पर भी कर्मबन्धन के कारण ही अनेक रूप धारण करता है। आत्मा न जन्म धारण करती है और न ही मरती है। परन्तु कर्मबन्धन में पड़ जाने पर ही एक नामरूप के नष्ट हो जाने पर उसका दूसरे नाम रूपों को प्राप्त होना टल नहीं सकता।

महाभारत के अनुसार, कर्मफल सृष्टि का अनिवार्य एवं अपरिहार्य नियम है। कर्म के प्रारम्भ हो जाने पर उसका व्यापार आगे चलता रहता है। सृष्टि के प्रारम्भ में जो भी कर्म किये जाते हैं, सृष्टि के संहार हो जाने पर भी वे आगे की सृष्टि में बीज रूप से बने रहते हैं। पूर्व की सृष्टि से जीव जैसे-जैसे कर्म करता है, उनके फल उन्हें यथावत प्राप्त होते हैं। कर्मों के फल की प्राप्ति में जीव की इच्छा एवं अनिच्छा के विषय में कोई विचार-विमर्श नहीं किया जाता है। महाभारत के अनुसार तो कर्मफल की प्राप्ति व्यक्ति के मरने के बाद उसके पुत्रों, पौत्रों एवं प्रपौत्रों को भोगना होता है।²⁰ अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल एक धरोहर के समान होता है जो कर्मजनित अदृष्ट के द्वारा सुरक्षित रहता है। कर्मफल को भोगने में जीव के द्वारा उसी प्रकार से उल्लंघन नहीं किया जा सकता है, जिस प्रकार कि फल एवं फूल किसी की प्रेरणा के बिना स्वयं ही वृक्षों में लग जाते हैं।

महाभारत के अनुसार जीव के द्वारा जिस अंग से कर्म किया जाता है उसे उसी अंग के द्वारा परिणाम भोगना पड़ता है। मनुष्य यदि वाणी से कोई कार्य करता है तो उसका सारा फल उसे वाणी द्वारा ही भोगना पड़ता है। यदि वह मन द्वारा कोई कार्य करता है तो उसे मन द्वारा ही उसका कर्मफल भोगना पड़ता है। जीव जैसे गुण वाला होकर कर्म करता है, वैसे ही गुणों से प्रेरित होकर उसे उस कर्म का शुभ-अशुभ फल भोगना पड़ता है।²¹

महाभारत के अनुसार, जीव का जन्म भी कर्मफल पर आधारित है, जिसे जीवात्मा स्वयं कभी भी नहीं कर सकती है। कर्मफलों का निर्धारण करने वाली एक व्यवस्थापक संस्था है, जिसे परब्रह्म परमेश्वर

के नाम से जाना जाता है। यह संस्था ही जीवों के कर्मों को उनके फलों के साथ स्थापित करती है। यह सम्पूर्ण सृष्टि ही परमेश्वर की इच्छा से चल रही है, अतएव भगवान् जिसका जितना फल निर्धारित करते हैं, उतना ही मनुष्य को प्राप्त होता है। परमेश्वर के द्वारा की गयी व्यवस्था किसी के प्रति विशेषभाव को लेकर नहीं की जाती है। जिसका जैसा कर्म होता है, उसको वैसा ही फल प्रदान किया जाता है। न तो जीव स्वयं अपने कर्मों के फलों की व्यवस्था कर सकता है एवं न ही कर्म स्वयं अपना फल दे सकते हैं। कर्म के भविष्य या फल केवल कर्म के नियमों से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। संसार के आरम्भ से प्रत्येक प्राणी नाम, रूपात्मक अनादि कर्म की कैद से बँध सा गया है। कर्म का चक्र जगत् में चलायमान है, जिसके परिणामस्वरूप जीव को अपने कर्मों के अनुसार सुख—दुःख भोगने पड़ते हैं।²²

इस प्रकार महाभारत के अनुसार कर्मफल कर्ता के समान ही गतिशील रहता है। जीव जब सोता है तो उसका कर्मफल भी सोता है, जब वह खड़ा होता है एवं चलता है तो उसके पीछे कर्मफल भी चलने लगता है। इतना ही नहीं कोई भी कर्म करते समय कर्मसंस्कार किसी भी देश, काल एवं परिस्थिति में कर्ता का साथ नहीं छोड़ता।

सन्दर्भ सूची—

1. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य निर्णयो ।
2. भीष्मपर्व—28 / 23
3. भीष्मपर्व—28 / 16
4. भीष्मपर्व—29 / 8—9
5. शान्तिपर्व—201 / 14
6. भीष्मपर्व—26 / 50
7. भीष्मपर्व—26 / 48—49
8. अश्वमेधिक पर्व—43 / 25
9. भीष्मपर्व—42 / 58
10. भीष्मपर्व—26 / 40
11. भीष्मपर्व—26 / 45
12. स्त्रीपर्व—3 / 20
13. भीष्मपर्व—26 / 46

14. गीतानवनीत, केशवदेव आचार्य, पृ01 87
15. भीष्मपर्व—26 / 48
16. भीष्मपर्व—26 / 58
17. भीष्मपर्व—26 / 43, 61
18. भीष्मपर्व—26 / 55
19. गीतानवनीत, पृ0 104, भीष्मपर्व—29 / 19,25
20. शान्तिपर्व—129 / 21
21. शान्तिपर्व—201 / 22
- 22- भीष्मपर्व—29 / 14,15